

यदि संभव हो, तो इस शाम मैं ध्यान के बारे में चर्चा करना चाहूंगा। मैं इस बारे में बात करना चाहूंगा, क्योंकि मुझे लगता है कि यह विषय जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

‘ध्यान’ को समझने के लिए और इसमें गहराई से पैठने के लिए सबसे पहले हमें शब्द और तथ्य को समझना होगा। कारण कि हममें से अधिकतर लोग शब्दों के गुलाम हैं। ‘ध्यान’ शब्द से ही अधिकतर लोगों में एक विशेष भावदशा, एक तरह की संवेदनक्षमता, शांति, कुछ न कुछ उपलब्ध करने की अभीप्सा जागने लगती है। किंतु शब्द वह वस्तु नहीं है, क्योंकि शब्द को, प्रतीक को, नाम को यदि कोई पूरी तरह न समझे, तो यह भयावह होता है। तब यह बाधा बन जाता है, मन ही को दासता में बांध लेता है। और शब्द की, प्रतीक की हममें जो प्रतिक्रिया होती है, वही हममें से अधिकतर को कर्मरत करती है, क्योंकि शब्द जिस तथ्य को व्यक्त कर रहा है, उसका हमें भान नहीं होता, एहसास नहीं होता। हम तथ्य तक, ‘जो है’ तक अपने मतों, निर्णयों, मूल्यांकनों के साथ, अपनी स्मृतियों के साथ पहुंचते हैं। इस तरह हम कभी भी तथ्य को, ‘जो है’, उसे देख नहीं पाते हैं। मुझे लगता है कि इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

किसी भी अनुभव को, मन की किसी भी अवस्था को, वास्तविक तथ्य, वस्तुस्थिति को, ‘जो है’ उसे भली भांति समझना हो, तो हमें शब्दों की गुलामी छोड़नी पड़ेगी--और यह काम बहुत कठिन होता है। उसे नाम देना, कोई शब्द देना अनेक स्मृतियां जगाता है; और ये स्मृतियां तथ्य का अतिक्रमण करती हैं, उस तथ्य को, ‘जो है’ उसे नियंत्रित करती, ढालती, दिशा देती हैं। अतः हमें इस विभ्रम के प्रति असाधारण रूप से सजग होना होगा और देखना होगा कि शब्द तथा वस्तुस्थिति, ‘जो है’ के बीच द्वंद्व न हो। और यह मन के लिए बहुत दुष्कर कार्य है, जिसके वास्ते अचूक और स्पष्ट होने की आवश्यकता होती है।

बिना स्पष्टता के वस्तुओं को हम जैसी वे हैं, वैसी ही नहीं देख पाते। वस्तुओं को जैसी वे हैं, ठीक वैसी, अपने मतों, निर्णयों, स्मृतियों के बिना देख पाने में असाधारण सौंदर्य होता है। हमें किसी पेड़ को, बिना कोई भ्रम बीच में लाए, वैसा ही देखना होता है जैसा कि वह है; इसी तरह किसी झील के ऊपर संध्या के आकाश को हम देखते हैं--सिर्फ देखते हैं, शब्द दिए बिना, प्रतीकों, विचारों, स्मृतियों को जगाए बिना, और इस प्रकार देखने में अद्भुत सौंदर्य होता है। एवं सौंदर्य परमावश्यक है। अपने आस-पास जो कुछ भी है, प्रकृति हो, लोग हों, विचार हों, उन्हें कदर देना, उनके प्रति संवेदनशीलता ही सौंदर्य है। यदि संवेदनशीलता नहीं हो तो स्पष्टता भी नहीं आ पाती, ये दोनों संयुक्त हैं, समानार्थक हैं। यह स्पष्टता अनिवार्य हो जाती है, यदि हमें समझना हो कि ध्यान क्या है।

ऐसा मन जो भ्रमित है, धारणाओं, अनुभवों, इच्छा के तमाम आग्रहों में जकड़ा हुआ है, वह केवल अंतर्द्वंद्व ही निर्मित करता है। और उस मन को जिसे वस्तुतः ध्यान की स्थिति में होना हो, न केवल शब्द के प्रति, बल्कि उस अनुभव या उस स्थिति को नाम देने की स्वयंचालित अनुक्रिया के प्रति भी सजग होना होगा। तथा उस स्थिति अथवा अनुभव को, वह जो भी अनुभव हो, चाहे जितना क्रूर, चाहे जितना वास्तविक, चाहे जितना मिथ्या हो--उसे कोई नाम दे देना मात्र ही स्मृति को दृढ़ता देता है, जिसे लादे हुए हम अगले अनुभव की ओर अग्रसर होते हैं।

कृपया मुझे यह ध्यान दिलाने दें कि जिस बारे में हम बात कर रहे हैं, उसे समझना बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यदि आप इसे नहीं समझ लेते हैं, तो वक्ता के साथ आप ध्यान की इस संपूर्ण समस्या में सहयात्रा नहीं कर पाएंगे।

जैसा कि हमने कहा, ध्यान जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातों में से एक है, या संभवतः जीवन में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि ध्यान न हो, तो मस्तिष्क तथा मन एवं विचार की सीमाओं से परे जाने की कोई संभावना नहीं रहती। और ध्यान की इस समस्या में प्रवेश करने के लिए प्रारंभ में ही सदाचार की नींव रखनी होगी। मेरा तात्पर्य समाज द्वारा आरोपित सदाचार से नहीं है, उस नैतिकता से नहीं है जो भय, लोभ, ईर्ष्या, किसी तरह के दंड या पुरस्कार के माध्यम से पोषित होती है।

मैं उस सदाचार की बात कर रहा हूँ, जो तब स्वाभाविक रूप से, स्वतः ही, सहजता से, बिना किसी दंड या अवरोध के आता है, जब अपने आपको जाना जाता है। स्वज्ञान के बिना, स्वयं को जाने बिना, आप चाहे जो कर लें, संभवतः ध्यान की स्थिति आ ही नहीं सकती। 'स्वज्ञान' से मेरा अभिप्राय है अपने प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावदशा, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक भावना को जानना; अपने मन की गतिविधि को जानना--न कि किसी 'परम स्व', 'विराट स्व' का ज्ञान; ऐसा कुछ नहीं है; 'उच्चतर स्व', 'आत्मन्' अभी भी विचार के क्षेत्र में ही हैं। विचार आपके संस्कारों का परिणाम है, विचार आपकी स्मृति का प्रत्युत्तर है--चाहे वह स्मृति पुरखों की हो अथवा तात्कालिक हो। तो पहले गहन व अचल रूप से उस सदाचार को जीवन में लाए बिना, जो स्वज्ञान के माध्यम से आता है, मात्र ध्यान करने का प्रयास नितांत प्रवंचनापूर्ण और पूरी तरह व्यर्थ है।

देखिए, यह बात उनके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो इस सबको संजीदगी से समझना चाहते हैं, क्योंकि यदि आप यह नहीं कर पाते तो आपका ध्यान और आपका वास्तविक जीवन जुदा रहते हैं, इनमें दूरी बनी रहती है--इतनी अधिक दूरी कि चाहे आप आसन-मुद्राएं लगा कर अनिश्चित काल तक ध्यान करते रहें, सारी उम्र आप अपने नासाग्र से आगे कुछ नहीं देख पाएंगे; कोई आसन आप लगा लें, चाहे जो आप करते रहें, उसका कुछ मतलब नहीं होगा।

अतः जो मन जांच-पड़ताल करता है--*जांच-पड़ताल* शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझ कर कर रहा हूँ--कि ध्यान क्या है, उसे यह नींव रखनी ही होगी, जो स्वाभाविक रूप से अपने आप ही, निष्प्रयास की सहजता के साथ रखी जाती है जब स्वज्ञान होता है। और यह समझना भी महत्त्वपूर्ण है कि यह स्वज्ञान, स्वयं को जानना क्या है, यह है 'मैं' के प्रति, जिसका स्रोत स्मृतियों के ढेर में है, बिना कुछ चयन किए, सजग होना--मैं अभी सजगता के अर्थ में जाऊंगा--इस 'मैं' के प्रति बिना किसी व्याख्या के सचेत होना, मन की गति का अवलोकन मात्र करना। किंतु वह अवलोकन हो नहीं पाता है, जब आप अवलोकन के माध्यम से केवल संग्रह करते हैं कि क्या करना है, क्या नहीं करना है, क्या उपलब्ध करना है, क्या उपलब्ध नहीं करना है। और यदि आप ऐसा करते हैं, तो स्व के रूप में मन की गति की जीवंत प्रक्रिया पर रोक लगा देते हैं। तात्पर्य यह कि मुझे तथ्य का, वास्तविक का, 'जो है' उसका अवलोकन करना होगा, उसे देखना होगा। यदि मैं इस तक किसी मत, किसी धारणा के साथ आता हूँ, जैसे कि "मुझे यह नहीं करना होगा" या "ऐसा करना होगा", जो स्मृति की प्रतिक्रियाएं ही हैं--तब 'जो है' की गति में अवरोध आते हैं, बाधा पड़ती है, अतएव सीखना नहीं हो पाता।

वृक्ष से होकर बहती हवा का अवलोकन करना हो, तो आप उसका कुछ कर नहीं सकते, वह वेग से बह सकती है, या सौम्यता से, सौंदर्य पूर्वक बह सकती है। आप, जो इसका अवलोकन कर रहे हैं, इसे नियंत्रित नहीं कर सकते। आप इसे आकार नहीं दे सकते, आप ऐसा नहीं कह सकते, "मैं इसे मन में संजो रखूंगा"। यह तो बस होती है। आप इसे याद तो रख सकते हैं। परंतु यदि आप इसे याद रखते हैं, और अगली बार वृक्ष से गुजरती हवा को निहारते समय उस याद को बीच में ले आते हैं, तो आप वृक्ष में हवा के प्राकृतिक बहाव को नहीं देख पाते, बल्कि केवल अतीत के बहाव को याद कर रहे होते हैं। इसलिए आप सीख नहीं रहे होते, अपितु जो आप पहले से जानते हैं, उसमें बस कुछ जोड़ रहे होते हैं। तो एक स्तर पर जानकारी, अगले स्तर के लिए बाधा बन जाती है।

मुझे उम्मीद है कि यह बात एकदम स्पष्ट है। क्योंकि जिस बात को अब हम समझने जा रहे हैं, उसके लिए एक ऐसे मन की दरकार है जो पूरी तरह स्पष्ट हो, पूर्वपहचान की किसी भी गति के बिना देख और सुन पाने में समर्थ हो।

अतः पहले तो हमें बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए, भ्रमित नहीं रहना चाहिए। स्पष्टता अनिवार्य है। 'स्पष्टता' से मेरा अभिप्राय है, चीजों को जैसी वे हैं ठीक वैसी ही देख पाना; बिना किसी मत के, 'जो है' को देखना; अपने मन की गति को देखना, इसका बहुत करीब से, भली-भांति परिश्रमपूर्वक, किसी प्रयोजन के बिना, दिशा-निर्देश के बिना अवलोकन करना। इस प्रकार मात्र अवलोकन के लिए अद्भुत स्पष्टता की आवश्यकता होती है, अन्यथा आप अवलोकन नहीं कर सकते। यदि आपने घूमती हुई चींटी का, जो कुछ भी वह करती है उस सबका निरीक्षण करना हो, तो अगर ऐसा करने में आप चींटी के बारे में विविध जैविक तथ्यों को बीच में लाते हैं, तब वह जानकारी आपके देखने में रुकावट बन जाती है। इस तरह आप तत्काल यह देखने लगते हैं कि कहां जानकारी आवश्यक होती है, और कहां जानकारी बाधा बन जाती है। तो अब कोई उलझन नहीं रहती।

जब मन स्पष्ट, अचूक होता है, गहन व मूलभूत विवेचना में समर्थ होता है, तो यह निषेध की अवस्था में होता है। हममें से अधिकतर लोग बातों को आसानी से स्वीकार कर लेते हैं, हम इतने भोले, आशुविश्वासी होते हैं, क्योंकि हम तसल्ली चाहते हैं, सुरक्षा चाहते हैं, उम्मीद का एहसास चाहते हैं, हम चाहते हैं कोई हमारा उद्धार कर दे--दिव्यात्माएं, मसीहा, गुरु, ऋषि-मुनि, आप इस समस्त बखेड़े से परिचित ही हैं! हम तुरंत, आसानी से स्वीकार कर लेते हैं, और उतनी ही आसानी से, अपने मन के मौसम के मुताबिक, अस्वीकार भी कर देते हैं।

चीजें स्वयं के भीतर जैसी हैं, वैसी ही देख पाने का भाव 'स्पष्टता' है। क्योंकि यह जो स्वयं है, यह संसार का ही एक भाग है। व्यक्ति स्वयं ही संसार की गतिशीलता है। जिसे हम 'स्वयं' कह रहे हैं, वह बाह्य अभिव्यक्ति है, जो भीतर की ओर उन्मुख गति है--यह उस ज्वार-तरंग की तरह है जो बाहर की ओर प्रवाह लेती है, और फिर भीतर लौट आती है। संसार से भिन्न स्वयं पर आपका एकाग्र होना, अवलोकनरत होना आपको अलगाव की ओर ले जाता है, व्यक्ति-विलक्षणता, मन के असंतुलन और अकेला करने वाले भयों और ऐसी अन्य दशाओं की तरफ ले जाता है। किंतु यदि आप संसार का अवलोकन करते हैं, और संसार की गति का अनुसरण करते हुए उसी गति पर आरूढ़ होकर भीतर की ओर लौटते हैं, तब आपके और संसार के बीच कोई विभाजन नहीं होता, तब आप सामूहिक से विपरीत वैयक्तिक नहीं होते।

और अवलोकन का यह भाव आवश्यक है, जो अन्वेषी भी है--जो खोज रहा है--और साथ ही अवलोकन कर रहा है, सुन रहा है, सजग है। मैं 'अवलोकन' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में कर रहा हूँ। अवलोकन का कार्य ही अन्वेषण का कार्य है। यदि आप स्वतंत्र नहीं है, तो खोज नहीं कर सकते। इसलिए खोजने के लिए, अवलोकन के लिए, स्पष्टता होनी ज़रूरी है; स्वयं के भीतर गहराई से खोजने के लिए आपको हर बार इस तक नये सिरे से आना होगा। तात्पर्य यह कि उस अन्वेषण में, उस खोज में आपने कभी कोई परिणाम उपलब्ध नहीं किया होता है, आप कभी किसी सीढ़ी पर नहीं चढ़े होते हैं, और आप ऐसा कभी नहीं कहते, "अब मैं जानता हूँ"। कोई सीढ़ी नहीं है। यदि आप चढ़ते भी हैं, तो आपको तत्काल नीचे आना होता है, ताकि आपका मन अवलोकन करने, देखने, सुनने के लिए अतिशय संवेदनशील रहे।

एवं इस अवलोकन करने, सुनने, देखने, निरीक्षण करने में ही सद्गुण का वह असाधारण सौंदर्य आता है। अपने-आप को जानने से आने वाले सद्गुण के अतिरिक्त अन्य कोई सद्गुण नहीं होता। तब वह सद्गुण

जीवंत, ऊर्जस्वी, सक्रिय होता है--न कि कोई मृत लक्षण जिसका आपने अभ्यास कर लिया है। और वह नींव आवश्यक है। अर्थात् अवलोकन, स्पष्टता तथा सद्गुण ध्यान के लिए नींव हैं, उस अर्थ में जिसकी हमने बात की है--उस अर्थ में नहीं जो आपने सद्गुण को दिया हुआ है कि उसे दिन-ब-दिन अभ्यास से बढ़ाते हैं, वह तो प्रतिरोध मात्र होता है।

तब, वहां से हम तथाकथित प्रार्थनाओं, किसी कोने में बैठ कर शब्दों, मंत्रों के तथाकथित जप, और किसी विशेष वस्तु या शब्द या प्रतीक पर मन को एकाग्र करने के प्रयत्न, जो कि संकल्पपूर्वक आयोजित ध्यान है--इन सबके निहितार्थों को देख सकते हैं। ध्यान से सुनिएगा। जानते-बूझते किसी आसन-मुद्रा में बैठने या तय करके, सचेत रूप से ध्यान के लिए विशेष कुछ करने का आशय यही है कि आप अपनी ही कामनाओं, अपनी ही संस्कारबद्धता के क्षेत्र में खेल खेल रहे हैं; और इसलिए यह तो ध्यान नहीं है। यदि कोई अवलोकन करे तो भली-भांति देख सकता है कि जो लोग वैसा ध्यान करते हैं, उन्होंने मन में तमाम तरह की छवियां बना रखी होती हैं; वे कृष्ण, ईसा मसीह, बुद्ध को देखने लगते हैं और सोच लेते हैं कि उन्हें कुछ उपलब्ध हो गया है--जैसे कि जो ईसाई होता है वह ईसा मसीह को देखता है। अब यह जिस प्रकार होता है, वह बिलकुल सीधी, एकदम स्पष्ट बात है; यह उसके अपने संस्कारों, अपने भय, अपनी आशाओं, अपनी सुरक्षा की कामना का प्रक्षेपण होता है। ईसाई ईसामसीह को देख लेता है, जैसे आप राम को अथवा अपने किसी भी इष्ट देवता को देखते।

इन दर्शनों में कुछ भी असाधारण नहीं है। ये आपके अचेतन की उपज हैं, जो कि अत्यधिक संस्कारग्रस्त, भय में प्रशिक्षित रहा है। जब आप थोड़े से शांत होते हैं, तो यह अपनी प्रतिमाओं, प्रतीकों, धारणाओं सहित झट से ऊपर आ जाता है। तो दर्शनों, भाव-समाधियों, चित्रों और प्रत्ययों का कुछ भी, किसी भी तरह का मूल्य नहीं है। यह तो इस तरह है, जैसे कोई व्यक्ति कुछ मंत्र, वाक्यांश या नाम बार-बार दोहराता चला जाए। जब आप किसी नाम को बारंबार पुनः दोहराते रहें, तो जाहिर है कि यही होता है कि आप अपने मन को स्तब्ध, मूढ़ बना देते हैं और उस मूढ़ता में यह शांत हो जाता है। यह ऐसे ही है जैसे आप मन को शांत बनाने के लिए कोई मादक द्रव्य ले लें--इस तरह के द्रव्य होते हैं--और उस स्तब्धता की, नशे की अवस्था में आपको दर्शन होने लगते हैं। स्पष्टतः ये सब आपके अपने समाज, अपनी संस्कृति, अपनी आशाओं और भयों की उपज है; यथार्थ से इनका कुछ भी लेना-देना नहीं है।

प्रार्थनाओं की भी यही स्थिति है। वह व्यक्ति जो प्रार्थना करता है, उस व्यक्ति की तरह है जिसकी नज़र किसी और की जेब पर है। व्यापारी, राजनेता और प्रतिस्पर्द्धा में लगा सारा समाज शांति के लिए प्रार्थना तो करता है, लेकिन ये सारे वह सब कुछ करने में लगे हैं, जिससे युद्ध, घृणा और वैमनस्य उपजते हैं--इसका कोई अर्थ, कोई औचित्य नहीं है। आपकी प्रार्थना एक याचना है, आप कुछ ऐसा मांग रहे हैं जिसे मांगने का आपको कोई अधिकार नहीं है--क्योंकि आप जी ही नहीं रहे हैं, आप सदाचारी नहीं हैं। आप अपने जीवन को समृद्धि देने के लिए कुछ ऐसा चाहते तो हैं, जो शांतिमय हो, महान हो, परंतु कर आप वह सब कुछ रहे हैं जो इसके विपरीत है व इसे विनष्ट करता है : अधम, क्षुद्र, मूढ़ बनते जा रहे हैं।

तो प्रार्थनाएं, दिव्यदर्शन, किसी कोने में सीधे होकर बैठना, सही तरीके से सांस लेना, अपने मन के साथ कुछ न कुछ करते रहना, ये सब बचपने की, अपरिपक्व बातें हैं, इन सबका उस व्यक्ति के लिए कोई महत्त्व नहीं है, जो इस बात के पूरे तात्पर्य को समझना चाहता है कि ध्यान क्या है। अतः वह व्यक्ति जिसे यह समझना हो कि ध्यान क्या है, उस तरह की बातों को पूरी तरह त्याग देता है, चाहे उसका काम छूट जाए; वह नौकरी पाने के लिए किसी क्षुद्र देव के पास नहीं जा पहुंचता--इस तरह का खेल आप सब खेलते हैं। जब आप किसी प्रकार के दुख में होते हैं, परेशान होते हैं, मंदिर की ओर रुख करते हैं, और स्वयं को धार्मिक कहा करते हैं!--यह सब आपको पूरी तरह, एकदम से परे करना होगा, ताकि यह आपको

छू तक न सके। यदि आपने यह कर लिया है, तो हम इस समस्त प्रश्न में आगे बढ़ सकते हैं कि ध्यान क्या है।

आपमें अवलोकन, स्पष्टता, स्वज्ञान और उससे उद्भूत सदाचार का होना आवश्यक है। सदाचार वह है, जो हर समय अच्छाई में पुष्पित होता है; हो सकता है आप कोई गलती कर बैठें, आपसे बुरे काम हो जाएं, लेकिन वे समाप्त हो चुके होते हैं; आप आगे बढ़ रहे होते हैं, अच्छाई में खिल रहे होते हैं क्योंकि आप स्वयं को जान रहे होते हैं। उस नींव को रख कर, तब आप प्रार्थनाएं, शब्दों का बुदबुदाना और आसन-मुद्रा लगाना एक तरफ हटा सकते हैं। तब आप इस बात की पड़ताल शुरू कर सकते हैं कि अनुभव क्या होता है।

अनुभव क्या है, इसे समझना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि हम सब अनुभव चाहते हैं। एक तो हमारे रोज़ के अनुभव होते हैं--दफ़्तर जाना, झगड़ना, डाह रखना, ईर्ष्यालु, क्रूर, प्रतिस्पर्द्धारत, कामातुर होना। जीवन में दिन-प्रतिदिन, चेतन या अचेतन रूप से, हम प्रत्येक प्रकार के अनुभव से गुजरते हैं। और हम अपने जीवन की सतह पर जीते रहते हैं, बिना सौंदर्य के, बिना किसी गहराई के; हमारे पास अपना ऐसा कुछ नहीं है जो मौलिक, नैसर्गिक, सुस्पष्ट हो। हम सब दोगम दर्जे के नकलची मनुष्य हैं, दूसरों को उद्भूत करते रहते हैं, दूसरों का अनुसरण करते रहते हैं, शंख की तरह खोखले हैं। और स्वभावतः हमें रोज़ के अनुभव से भिन्न अधिक अनुभूति की चाह होती है। अतः हम या तो ध्यान के माध्यम से, या कुछ नवीनतम मादक द्रव्य लेकर ऐसी अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं। एल एस डी 25 इन्हीं नये मादक द्रव्यों में से एक है; और जिस क्षण आप इसे लेते हैं, आपको लगता है कि आपने 'झटपट रहस्यदृष्टि' का अनुभव कर लिया है--ऐसा नहीं है कि मैंने इस द्रव्य को लेकर देखा है। (हंसी)

हम गंभीरता से बात कर रहे हैं। आप ज़रा सी उकसाहट पर हंस पड़ते हैं, इसलिए आप गंभीर नहीं हैं, आप स्वयं को देखते हुए एक-एक कदम करके इसमें प्रवेश नहीं कर रहे हैं, आप केवल शब्दों को सुन रहे हैं और उन पर सवार हो कर बहे जा रहे हैं--जैसा न करने के लिए मैंने आपको इस वार्ता के आरंभ में ही चेता दिया था।

तो ऐसे मादक द्रव्य होते हैं, जो आपकी चेतना को फैलाते से लगते हैं तथा उतने से समय के लिए आपको उच्च-संवेदनक्षम बना देते हैं। और उस बढ़ी हुई संवेदनक्षमता की दशा में आप वस्तुओं को देखते हैं : वृक्ष आश्चर्यजनक रूप से जीवंत लगने लगता है, चटख, स्पष्ट और निस्सीम सा। अथवा आप यदि धार्मिक वृत्ति के हैं, तो आपको उस तीव्र संवेदन वाली हालत में शांति और प्रकाश का एक असाधारण बोध होने लगता है; आपके द्वारा जो भी देखा जा रहा है उसके और आपके बीच भेद नहीं रहता, आप वही हो जाते हैं; जैसे पूरा सृष्टि-विस्तार आप ही का अंश होता है। और फिर आप इन मादक द्रव्यों के लिए ललकने-तरसने लगते हैं क्योंकि अब आपको और अनुभव चाहिए, और अधिक विस्तृत, और अधिक गहरा अनुभव, जिससे आपकी आशा बंधी होती है कि वह आपके समस्त जीवन की सार्थकता प्रकट करेगा, और इस तरह इन द्रव्यों पर आपकी निर्भरता शुरू हो जाती है। तो भी, आपको जब ये अनुभव होते हैं, आप उस समय भी होते विचार के ही क्षेत्र में हैं, वह क्षेत्र ज्ञात का ही होता है।

तो आपको अनुभव को समझना होगा; अनुभव अर्थात् किसी चुनौती को दिया गया प्रत्युत्तर जो प्रतिक्रिया बन जाता है, और वह प्रतिक्रिया आपके विचार, आपकी भावना, आपके अस्तित्व को आकार देती है। तथा आप इसमें और-और अनुभव जोड़ते चले जाते हैं, आप सोचते हैं कि आपको अधिकाधिक अनुभव होते रहें। जितनी अधिक स्पष्ट इन अनुभवों की स्मृति होती है, उतना ही अधिक आपको ख्याल होता है कि आप जानते हैं। लेकिन यदि आप गौर करें तो पाएंगे कि जितना अधिक आप जानते हैं, उतने ही अधिक

छिछले और खाली आप हो जाते हैं। तो आपको न केवल वह समझना होगा जो आपको पहले मैंने कहा है, अपितु अनुभव की इस असाधारण मांग को भी समझ लेना होगा। अब हम आगे बढ़ सकते हैं।

ऐसा मन जो किसी भी प्रकार के अनुभव की तलाश में है, अभी भी समय के, ज्ञात के क्षेत्र में ही है, स्व-प्रक्षेपित इच्छाओं के क्षेत्र में ही है। जैसा कि मैंने वार्ता के प्रारंभ में कहा था, तय करके किया गया ध्यान केवल भ्रम की ओर ले जाता है। तो भी, ध्यान की आवश्यकता तो स्पष्ट है। संकल्पपूर्वक, सोच-बूझ कर किया गया ध्यान केवल आपको विभिन्न प्रकार के आत्म-सम्मोहन, आपकी अपनी इच्छाओं, अपने संस्कारों द्वारा प्रक्षेपित तमाम तरह के अनुभवों की ओर ले जाता है, और ये इच्छाएं, ये संस्कार आपके मन को आकार देते हैं, आपके विचार इनसे नियंत्रित होने लगते हैं। इसलिए वह व्यक्ति जो ध्यान की गहन अर्थवत्ता को वस्तुतः समझना चाहता हो, उसे अनुभव के अभिप्राय को भी समझ लेना होगा; और यह भी आवश्यक है कि उसका मन तलाशते रहने से मुक्त हो। यह बहुत कठिन होता है। मैं अब इसी पहलू की विस्तार से चर्चा करूंगा।

इन सब बुनियादी बातों को सहज, स्वतःस्फूर्त, सरल रूप से कह लेने के बाद अब हमें यह पता लगाना होगा कि विचारों को नियंत्रित करने का अर्थ क्या होता है। क्योंकि इसी की तो आप तलाश में हैं। जितना अधिक आप विचार को नियंत्रित कर पाते हैं, उतना अधिक आप ध्यान में आगे बढ़ गए हैं ऐसा सोचने लगते हैं। मेरे देखे तो, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावात्मक किसी भी प्रकार का नियंत्रण क्षतिकारक है। कृपया इसे ध्यान से सुनें। यह न कहने लगे, “तब तो जो मुझे पसंद हो, करूंगा”। मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ। नियंत्रण में, वश में करना, दमन, अनुकूलन, विचार को किसी विशेष सांचे में ढाल लेना, ये सारी बातें आ जाती हैं और यह भी कि वह सांचा, वह प्रारूप इस बात की खोज की अपेक्षा अधिक महत्त्व का हो जाता है कि सत्य क्या है। तो किसी भी प्रकार का नियंत्रण--वह प्रतिरोध, दमन या उदात्तीकरण चाहे जिस रूप में हो--मन को अतीत के अनुसार, उन संस्कारों के अनुरूप जिनमें आप पले-बढ़े हैं, किसी विशेष समुदाय के संस्कारों तथा ऐसी ही अन्य-अन्य बातों के मुताबिक ढालने लगता है।

ध्यान क्या है--यह समझना बहुत आवश्यक है। अब कृपया सावधानीपूर्वक सुनें। मुझे पता नहीं कि आपने पहले कभी इस प्रकार का ध्यान किया भी है या नहीं, शायद नहीं किया है। पर अब आप इसे मेरे साथ करने जा रहे हैं। हम यह यात्रा साथ-साथ करने वाले हैं, शाब्दिक रूप से नहीं अपितु वास्तव में, इस सबसे गुजरते हुए ठीक उस छोर तक जाना है, जहां तक शाब्दिक संप्रेषण की पहुंच है। अर्थात् यह ऐसा ही है, जैसे कि हम उस द्वार तक साथ-साथ जाएं, और तब आप या तो उस द्वार से होकर जा सकते हैं, या द्वार के इस ओर ही ठिठक सकते हैं। आप द्वार के इस ओर ही रुक जाएंगे, यदि आपने वास्तव में, तथ्यतः वह सब नहीं किया है जिस बारे में बात की जा रही है--इसलिए नहीं कि वक्ता यह कह रहा है, बल्कि इसलिए, क्योंकि यह स्वस्थ, संतुलित व तर्कसंगत बात है और हर जांच, हर परीक्षा में खरी उतरेगी।

तो अब साथ-साथ हम ध्यान में उतरने जा रहे हैं--तय करके किये जाने वाला ध्यान नहीं, क्योंकि वैसा कुछ तो होता ही नहीं है। ध्यान तो ऐसा है जैसे कोई खिड़की खुली छोड़ दे, हवा को जब आना होगा, आ जाएगी--फिर वह हवा जो भी लाए, जैसी भी वह बयार हो। किंतु यदि आप हवाओं के आने की अपेक्षा रखें, प्रतीक्षा करें, क्योंकि आपने खिड़की खुली छोड़ रखी है, तो वे कभी नहीं आएंगी। अतः खिड़की का खुलना प्रेम की वजह से, स्नेह और स्वतंत्रता की वजह से हो, इसलिए नहीं कि आप कुछ चाहते हैं, और यही सौंदर्य की अवस्था है, यही मन की वह स्थिति है, जो देखती है और कुछ मांग नहीं करती।

सजग होना मन की एक असाधारण स्थिति है--अपने परिवेश के प्रति, वृक्षों के प्रति, उस गाते हुए पक्षी के प्रति, पीछे छूटते सूर्यास्त के प्रति सजग होना; उन चेहरों, उन मुस्कानों के प्रति सजग होना, सड़क की गर्द के प्रति सजग होना; धरती के सौंदर्य, डूबते सूरज के सामने खड़े ताड़ और पानी की छोटी सी लहर के

प्रति सजग होना--बस केवल सजग, जागरूक होना, बिना किसी चयन के। कृपया इसे अब करें, जब आप साथ यात्रा कर रहे हैं। इन पक्षियों को सुनें, इन्हें नाम न दें, कौन सा पक्षी है यह न पहचानने लगे, बल्कि सिर्फ सुनें, उस ध्वनि को सुनें। अपने विचारों की हलचल को सुनें, उन्हें नियंत्रित मत करें, आकार न दें, यह न कहें, “यह सही है, वह गलत है”, बस उनके साथ बढ़ें। यह सजगता है, जिसमें कोई चयन, चुनाव नहीं है, निंदा नहीं है, निर्णय नहीं है, कोई तुलना या व्याख्या नहीं है, बस अवलोकन मात्र है। ऐसी सजगता आपके मन को अत्यंत संवेदनक्षम, संवेदनशील बनाती है। जिस क्षण आप नाम देते हैं, आप वापस लौट चुके होते हैं, आपका मन मंद बन जाता है, क्योंकि उसी का आपको अभ्यास पड़ा हुआ है।

सजगता की उस स्थिति में अवधान, सावधानता होती है--नियंत्रण नहीं, एकाग्रता नहीं। अवधान है--इसका अर्थ है, आप पक्षियों को सुन रहे हैं, आप सूर्यास्त को देख रहे हैं, आप वृक्षों की हलन-चलन के रुक जाने को देख रहे हैं, गुजरती हुई कारों की आवाज़ आपको सुनाई पड़ रही है, आप वक्ता को सुन रहे हैं और आप इन शब्दों के अर्थ के प्रति सावधान है, आप अपने विचारों और भावनाओं के प्रति एवं इस अवधान की गतिमयता के प्रति सावधान हैं। आप व्यापक रूप से, बिना कोई सीमा बनाए, न केवल चेतन स्तर पर अपितु अचेतन तल पर भी सावधान हैं। अचेतन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसलिए अचेतन की आपको जांच-पड़ताल करनी होगी।

मैं ‘अचेतन’ शब्द का इस्तेमाल किसी पारिभाषिक शब्द या तकनीक के तौर पर नहीं कर रहा हूँ। मनोवैज्ञानिक इसे जिस अर्थ में लेते हैं, उस अर्थ में मैं इसका प्रयोग नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मैं उसकी बात कर रहा हूँ, जिसके प्रति आप सचेत नहीं होते। क्योंकि हममें से अधिकतर लोग मन की सतह पर ही जिया करते हैं : दफ्तर जाते हैं, कोई तकनीक या जानकारी हासिल करते हैं, झगड़ते रहते हैं, और इसी तरह की और चीज़ें किया करते हैं। हम अपने अस्तित्व के उस गहरे तल की ओर कभी ध्यान नहीं देते, जो हमारे समुदाय का, प्रजातीय आनुवंशिक अवशिष्टों का, समग्र अतीत का--केवल व्यक्ति के रूप में आपके अतीत का ही नहीं, बल्कि मनुष्यमात्र के अतीत का--और उसकी दुर्घटनाओं का परिणाम है। जब आप सो जाते हैं, तो यह सब कुछ अपने-आप को स्वप्नों के रूप में प्रक्षेपित करता है, और फिर उन स्वप्नों की व्याख्या की बात आती है। स्वप्न उस मनुष्य के लिए पूरी तरह अनावश्यक हो जाते हैं, जो जागा हुआ है, सतर्क है, जो देख रहा है, सुन रहा है, सजग है, अवधानयुक्त है, सावधान है।

अब ऐसा अवधान अत्यधिक ऊर्जा की मांग करता है : वह ऊर्जा नहीं जो आपने अभ्यास के द्वारा, अविवाहित रह कर या इसी तरह की अन्य बातों से इकट्ठी की है--वह सब तो लोभ की ऊर्जा है। मैं स्वज्ञान की, स्वयं को जानने की ऊर्जा की बात कर रहा हूँ। चूंकि आप यह सही नींव रख चुके हैं, उसी से ऊर्जा आती है अवधान के लिए, जिसमें एकाग्रता वाला अभिप्राय नहीं होता।

एकाग्रता तो वर्जन है, बहिष्कार है--आप उस संगीत को सुनना चाहते हैं और वह भी सुनना चाहते हैं जो वक्ता कह रहा है, इसलिए आप अपने भीतर उस संगीत का प्रतिरोध करते हैं और वक्ता को सुनने का प्रयत्न करते हैं; अतः आप वास्तव में पूर्ण अवधान, अपना पूरा ध्यान नहीं दे रहे होते। आपकी ऊर्जा का एक हिस्सा उस संगीत का प्रतिरोध करने में जा रहा है और दूसरे हिस्से से आप वक्ता को सुनने का प्रयास कर रहे हैं, इसलिए आप पूरी तरह नहीं सुन रहे हैं, अतएव आप पूर्ण अवधान, पूरा ध्यान नहीं दे रहे हैं। अतः यदि आप एकाग्र होते हैं, तो केवल प्रतिरोध कर रहे होते हैं, बहिष्कार कर रहे होते हैं। किंतु ऐसा मन जो अवधानयुक्त है, बिना कुछ वर्जित किए एकाग्र भी हो सकता है।

तो इस अवधान से एक ऐसे मस्तिष्क का प्रादुर्भाव होता है जो मौन है, मस्तिष्क-कोशिकाएं स्वतः ही शांत हैं--उन्हें शांत बनाया नहीं गया है, उन्हें अनुशासित करके, बाध्य करके, जबरदस्ती अनुकूलित नहीं किया गया है। किंतु चूंकि यह समग्र अवधान स्वाभाविक रूप से, स्वतः ही बिना किसी प्रयास के, सहजता से

घटित हुआ है, मस्तिष्क की कोशिकाओं को विकृत जड़, रुक्ष, कठोर नहीं बना दिया गया है। मुझे आशा है, आप यह सब समझ रहे हैं। जब तक स्वयं मस्तिष्क-कोशिकाएँ ही अद्भुत रूप से संवेदनशील, जीवंत नहीं होतीं, कठोर बना कर, टोक-पीट कर, अतिकार्य से बोझिल होकर, ज्ञान के किसी खास विभाग में विशेषज्ञता द्वारा नहीं, अपितु जब तक वे असाधारण रूप से संवेदनक्षम नहीं हो जातीं, वे शांत नहीं हो सकतीं। तो आवश्यक है कि मस्तिष्क शांत हो, पर साथ ही हर प्रतिक्रिया के प्रति संवेदनशील हो, इस सारे संगीत, आवाज़ों, पक्षियों के प्रति सजग हो, इन शब्दों को सुन रहा हो, सूर्यास्त होता देख रहा हो--किसी भी दबाव, असर या तनाव के बिना। मस्तिष्क का शांत होना आवश्यक है, क्योंकि ऐसी शांति के बिना जो अप्रेरित है, जिसे कृत्रिम रूप से नहीं लाया गया है, स्पष्टता संभव नहीं है।

ऐसी स्पष्टता केवल तभी आ सकती है, जब अवकाश होता है, खाली जगह होती है। और आपके भीतर अवकाश तब होता है, जिस क्षण मस्तिष्क पूर्णतः शांत किंतु अत्यधिक संवेदनशील होता है, निर्जीव नहीं। और इसी कारण यह बहुत महत्वपूर्ण है कि आप सारा दिन क्या करते हैं। परिस्थितियों द्वारा, समाज द्वारा, आपके नौकरी-धंधों और विशेषज्ञता द्वारा, किसी दफ्तर में तीस या चालीस साल निर्दयता से घिसते-पिसते--इस सबके द्वारा मस्तिष्क कठोर बना दिया जाता है, उसकी असाधारण संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है। और मस्तिष्क का शांत होना जरूरी है। तब उसी से संपूर्ण मन, जिसमें मस्तिष्क भी शामिल है पूरी तरह निश्चल होने में समर्थ होता है। यह निश्चल मन अब कुछ नहीं खोज रहा है, इसे किसी अनुभव की प्रतीक्षा नहीं है, यह कतई किसी अनुभव से नहीं गुजर रहा है।

मुझे आशा है कि आप यह सब समझ पा रहे हैं। शायद आप नहीं समझ रहे हैं--पर इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। आप केवल सुनें। मुझसे सम्मोहित न हों, लेकिन इस बात के सत्य को सुनें। और शायद फिर कभी, जब आप बाजार में टहल रहे हों, बस में बैठे हों, किसी जल प्रवाह को, या हरे-भरे लहलहाते धान के खेत को निहार रहे हों, यह सच अनजाने ही, दूर देश से आती किसी सांस की तरह आपको स्पर्श कर ले।

इसलिए तब मन, बिना किसी दबाव के, बिना किसी बाध्यता के, पूर्णतः निश्चल हो जाता है। यह निश्चलता विचार द्वारा निर्मित नहीं है, क्योंकि विचार तो समाप्त हो चुका है, विचार का पूरा का पूरा यंत्र अब रुक चुका है। विचार का अंत आवश्यक है, नहीं तो विचार, और अधिक छवियां, और धारणाएँ, और भ्रम उपजाता रहेगा--और, और, और। इसलिए आपको विचार के इस पूरे के पूरे यंत्र को समझना पड़ेगा--यह नहीं कि विचार करना रोकेँ कैसे। यदि आप विचार के समस्त यंत्र को समझ लेते हैं, जो कि स्मृति का प्रत्युत्तर, साहचर्य व पहचानना, नाम देना, तुलना तथा मूल्यांकन है--यदि आप इसे समझ लेते हैं, तो स्वभावतः विचार का अवसान हो जाता है। जब मन पूर्णतः निश्चल होता है, तब उस निश्चलता से, उस निश्चलता में, एक बिलकुल अलग तरह की गति होती है।

वह गति विचार द्वारा, समाज द्वारा, आपने जो पढ़ा है या नहीं पढ़ा है उस सबके द्वारा निर्मित गति नहीं है। वह गति समय व अनुभव की नहीं है, क्योंकि उस गति में कोई अनुभव नहीं है। एक निश्चल मन में कोई अनुभव घटित नहीं होता है। एक प्रखर जगमगाते प्रकाश को कुछ और अधिक नहीं चाहिए होता है, वह अपना प्रकाश स्वयं होता है। वह गतिशीलता किसी दिशा की ओर गति नहीं करती है, क्योंकि दिशा में तो समय निहित है। उस गतिमयता का कोई कारण नहीं है, क्योंकि जिसका कुछ कारण होता है, उसका कोई कार्य अर्थात् परिणाम भी होता है और वह कार्य पुनः कारण बन जाता है--और इस प्रकार से कारण और कार्य की अंतहीन शृंखला बनती जाती है, जो परिणाम होता है, वह फिर कारण बना करता है। तो अब न कहीं कोई परिणाम है, न कारण है, न प्रयोजन है, न ही किसी अनुभव का एहसास है। अतएव चूंकि मन पूर्णतः निश्चल है, स्वाभाविक रूप से निश्चल है क्योंकि आप वह नींव रख चुके हैं, इसका जीवन से प्रत्यक्ष संबंध है, यह दैनंदिन जीवन से विच्छिन्न, अलग नहीं है।

यदि मन वहां तक जा पाया है, तो वह गतिमयता ही सर्जन है। तब अभिव्यक्ति की बेचैनी नहीं होती है, क्योंकि जो मन सर्जन की स्थिति में है, उससे अभिव्यक्ति हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। इस संपूर्ण मौन में मन की जो स्थिति है--उसमें गति होगी, उसकी अपनी गतिशीलता होगी, अज्ञात में, उसमें जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता।

तो जो ध्यान आप किया करते हैं, यह ध्यान नहीं है जिसकी हम बात कर रहे हैं। यह ध्यान शाश्वत से शाश्वत की ओर है, क्योंकि आप नींव रख चुके हैं, समय पर नहीं, अपितु यथार्थ पर।

चेन्नई] 29 जनवरी 1964